

## इकाई 6 कबीर का काव्य शिल्प

### इकाई की रूपरेखा

- 6.0 उद्देश्य
- 6.1 प्रस्तावना
- 6.2 कबीर की भाषा के विभिन्न रूप
- 6.3 कबीर की भाषा में व्यंग्य
- 6.4 कबीर के काव्य में भाव सौंदर्य और कलात्मक सौष्ठव
- 6.5 सारांश
- 6.6 अभ्यास/प्रश्न

### 6.0 उद्देश्य

विचारधारा के स्तर पर कबीर से परिचित होने के बाद कवि कबीर से परिचित होना भी आवश्यक है। इस इकाई में हम कबीर की कविता की मुख्य विशेषताएँ जानने जा रहे हैं। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- कबीर की कविता की भाषा के विविध रूपों का विश्लेषण कर सकेंगे;
- जान सकेंगे कि कबीर व्यंग्य के महान कवि हैं; और
- कबीर के काव्य के भावसौंदर्य और कलात्मक उत्कर्ष की व्याख्या कर सकेंगे।

### 6.1 प्रस्तावना

इस इकाई में कबीर की काव्यभाषा, उनकी काव्यकला तथा सृजनात्मक सामर्थ्य पर विचार किया गया है। भक्ति काल के प्रारंभ में काव्यभाषा के रूप में अभी न तो खड़ी बोली का पूर्ण विकास हुआ था और न अवधी तथा ब्रजभाषा का। कबीर की भाषा को लेकर भी विद्वानों के बीच गहरा मतभेद है। क्या कबीर को बानियों को धार्मिक साधना के अंतर्गत लिखे गये सांप्रदायिक साहित्य की संज्ञा दे दी जाय? इस प्रश्न पर भी आलोचकों में मतभेद है। अतः कबीर की कला और उनकी बानियों के भावसौंदर्य पर समुचित ढंग से विचार किया गया है। इसी क्रम में कबीर का मूल्यांकन भी सर्वथा नयी दृष्टि से किया गया है।

### 6.2 कबीर की भाषा के विभिन्न रूप

कबीर के अपने हाथों लिखी उनकी बानियों की हस्तलिखित पोथी अभी तक किसी को भी प्राप्त नहीं हुई है। कबीर की बानियों को उनके शिष्यों ने तथा कबीरपंथी संतों ने ही लिखित रूप प्रदान किया है। यहाँ तक कि राजस्थान के कबीरपंथियों के यहाँ एक तरह का पाठ मिलता है, तो काशी-गोरखपुर आदि पूर्वी अंचलों के कबीरपंथियों के यहाँ दूसरी तरह का पाठ मिलता है। पंजाब में 'गुरु ग्रंथ साहिब' के अंतर्गत भी कबीर की बानियाँ संगृहीत हैं। अतः कबीर साहित्य की तीसरी पाठ-परम्परा ने कबीर की भाषा के संबंध में विद्वानों के बीच मतभेद बढ़ाया ही है। कबीर की बानियों के ये तीनों प्रकार के पाठ सोलहवीं-सत्रहवीं सदी की हस्तलिखित पोथियों पर आधारित हैं। कबीर के जीवनकाल में संगृहीत किसी भी हस्तलिखित पोथी के अभाव के कारण प्रायः सभी पाठ अनुमानों पर निर्भर हैं। कबीर ग्रंथावली के रूप में डॉ. माता प्रसाद गुप्त और डॉ. पारस नाथ तिवारी द्वारा अलग-अलग ढंग से संपादित पुस्तकें उपलब्ध हैं। ये तीनों ग्रंथ प्रायः दादूपंथी एवं निरंजनी पंथी संतों की

राजस्थानी परम्परा पर निर्भर हैं। 'संत कबीर' नाम से संकलित डॉ. रामकुमार वर्मा का पाठ पंजाबी पाठ परम्परा पर निर्भर है। बाबू श्यामसुंदरदास द्वारा संपादित 'कबीर ग्रंथावली' का पाठ भी पंजाबी परम्परा पर निर्भर करता है क्योंकि उन्होंने भी 'गुरु ग्रंथ साहिब' में संकलित कबीर की बानियों की भाषा संरचना को पाठ निर्धारण का आधार बनाया है। इधर ही डॉ. शुक्रदेव सिंह द्वारा संपादित 'बीजक' का प्रकाशन हुआ है। इसमें अवधी-भोजपुरी अथवा पूर्वी प्रदेश की पाठ परम्परा को भाषा संरचना की दृष्टि से निर्णायक महत्व प्रदान किया गया है। इसके अतिरिक्त कबीर बानियों के ऐसे ग्रंथ भी हैं जिनमें खड़ी बोली को भाषा संरचना की दृष्टि से प्रमुखता प्रदान की गई है।

इससे स्पष्ट है कि कबीर की बानियों में सिर्फ शब्दभंडार की दृष्टि से ही नहीं, उच्चारणभेद, वाक्यगठन, सर्वनाम तथा क्रियापदों के प्रयोगों के लिहाज से भी कहीं पंजाबी भाषा के लक्षण प्रकट होते हैं तो कहीं राजस्थानी भाषा के, कहीं अवधी-भोजपुरी के तो कहीं खड़ी बोली के। मध्ययुग में प्राप्त उल्लिखित चार बोलियों की अलग-अलग प्रकार की भाषा संरचनाओं के मिश्रित प्रयोगों से कबीर की भाषा के संबंध में निर्णय की जटिलता से बचने के लिए सुगम उपाय यह निकाला गया कि उसे 'सधुक्कड़ी भाषा' कहा जाए। दरअसल आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा ही इस प्रवृत्ति का आरंभ किया गया था। 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में उनकी शंकाओं और ऊहापोह को स्पष्ट रूप में आप देख सकते हैं :

"उनकी भाषा सधुक्कड़ी अर्थात् राजस्थानी-पंजाबी मिली खड़ी बोली है, पर 'रमैनी' और 'सबद' में गाने के पद हैं जिनमें काव्य की ब्रजभाषा और कहीं-कहीं पूरबी बोली का भी व्यवहार है।" (पृष्ठ 75)

इस उद्धरण से यह भी पता चलता है कि आचार्य शुक्ल कबीर की भाषा के संबंध में प्रचलित विवाद को सिर्फ पंजाबी, अवधी-भोजपुरी, खड़ी बोली तक ही सीमित नहीं रखते। ब्रजभाषा का उल्लेख कर वे इस पेचीदा समस्या को और भी उलझा देते हैं। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र इस समस्या के समाधान के बजाय एक नया पहलू जोड़ देते हैं। उनका कहना है कि "साखियों की भाषा में खड़ी का जितना व्यवहार मिलता है, उतना सबदी में नहीं। उसमें ब्रजी के शब्द कुछ अधिक मिलते हैं। रमैनी में पूर्वी रूप बराबर दिखाई देते हैं; जैसे - कोई-कोई या कोऊ-कोऊ के स्थान पर केऊ-केऊ। इस प्रकार विचार करने से यह कहा जा सकता है कि कबीर की तीन प्रकार की कृतियों में स्थूल रूप से हिन्दी की तीन उपभाषाओं की स्पष्ट और निश्चित प्रवृत्ति मिल जाती है।" (हिन्दी साहित्य का अतीत, भाग-1, पृष्ठ 152)

1993 में प्रकाशित 'कबीर वाङ्मय' (तीन खंडों में) के संपादक डॉ. जयदेव सिंह और डॉ. वासुदेव सिंह ने कबीर की भाषा के स्वरूप पर नये ढंग से विचार किया है। चूंकि रमैनी के पाठालोचन में डॉ. शुक्रदेव सिंह इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि कबीर की भाषा का मूल ढाँचा अवधी-भोजपुरी पर अवलम्बित है, अतः कबीर वाङ्मय के संपादक-द्वय का कहना है कि साखियों और पदों में पंजाबी तथा राजस्थानी के अधिक प्रयोग असंगत प्रतीत होते हैं। इसे वे कबीर की स्वाभाविक भाषा भी नहीं मानते। इन दोनों संपादकों की स्थापना से कबीर साहित्य के विद्यार्थी के नाते आपका परिचित होना आवश्यक है। स्थापना इस प्रकार है -

"वस्तुतः कबीर की भाषा के संबंध में अंतिम निर्णय टेढ़ी खीर है। अनुमान के आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि संत कबीर के जीवन का अधिकांश काशी में बीता, उनके भाषागत संस्कार अध्ययन की अपेक्षा श्रवण से बने, उन्होंने विभिन्न स्थानों की यात्रा की तथा वे अनेक प्रकार के साधुसंतों के संपर्क में आये, अतः उनकी भाषा का मूल आधार पूर्वी रहा होगा, जिसमें अन्य बोलियों और भाषाओं के लोकप्रचलित शब्द अनायास ही आ गये होंगे।" (कबीर वाङ्मय, खंड-1, पृष्ठ 16)

### कबीर की भाषा के पारिभाषिक शब्द

कबीर की कविता के तीन रूप हैं- साखी, सबद और रमैनी। इन तीनों प्रकार की बानियों में मध्यकालीन धर्मसाधनाओं, भारतीय दर्शन, इस्लाम तथा सूफीमत के पारिभाषिक शब्दों की भरमार है। अनेक स्थलों पर कबीर की बानियों के अर्थ ग्रहण में इन शब्दों की वजह से आम पाठकों को बहुत कठिनाई का अनुभव होता है। यहाँ तक कि मध्यकालीन साहित्य के विशेषज्ञ विद्वानों का भी दिमाग चकराने लगता है। इसीलिए आप देखेंगे कि कबीर के साहित्य पर प्रकाशित आलोचनाग्रंथों या कबीर बानियों का पाठालोचन करने वाले ग्रंथों के अंत में पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या प्रस्तुत करने वाले परिशिष्ट जोड़े गये हैं। बौद्ध, जैन, योग, तंत्र, शैव, शाक्त और सूफी मतों से संबंधित अनेक ऐसे शब्दों के अर्थों को लेकर भी विद्वानों के बीच विवाद छिड़ा हुआ है। अतः एक ही साखी या पद के अनेक प्रकार से अर्थ किये जाते हैं, उनके अभिप्रायों को लेकर माथापच्ची करनी पड़ती है। उदाहरण के लिए अनहद नाद, सुरति-निरति, उन्मनी, कुंडलिनी, इड़ा-पिंगला, गगन गुफा, सहज समाधि, गगनघटा, निरंजन,

खसम, सुधारस, शून्य, पिंड, अंड, घट, हंसा, अच्छर, शब्द, गर्भत्रास जैसे सैकड़ों शब्दों की एक तालिका बनायी जा सकती है। नाथपंथी योगियों की धर्मसाधना से संबंधित शास्त्रीय ग्रंथों में इन शब्दों के निश्चित परिभाषिक अर्थ हैं। कबीर की बानियों में इन शब्दों के प्रायः वही अर्थ हैं। इसी तरह सूफी मत और इस्लाम से संबंधित शब्दों में वजूद, गैब, दीदार, इश्क, नूर, अल्लाह, खुदा, करीम, काबा, बुत, पीर, मुरीद, रब, मुरसिद, रोजा, नमाज, कलमा, बिहिश्त, बन्दा, मस्तान, आदि पर गौर किया जा सकता है। इनके अर्थ भी सूफी धर्मसाधना की विभिन्न परंपराओं द्वारा निश्चित कर दिये गये हैं। कबीर इनका उपयोग भी प्रायः उन्हीं अर्थों में करते हैं।

पर उलटबाँसियों, रूपकों, अन्योक्तियों में इन पारिभाषिक शब्दों का तात्त्विक अभिप्राय नयी अर्थभंगिमा ग्रहण कर लेता है चूँकि लक्षणा तथा व्यंजना की सहायता से कृतिकार का तात्पर्य वाच्यार्थ तक सीमित नहीं रहता है। यद्यपि सिद्धों और नाथों ने भी उलटबाँसियों, रूपकों तथा अन्योक्तियों में इन पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग दोहरे अर्थों में किये हैं, पर इन प्रयोगों में वाच्यार्थ की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं होता। इसके अतिरिक्त प्रेम और भक्ति का संदर्भ देकर कबीर ने पारिभाषिक शब्दों के अभिप्रायों को मध्ययुग की सामाजिक आवश्यकताओं के संदर्भ में नयी प्राणवत्ता दे दी है।

विभिन्न धर्मसाधनाओं के पारिभाषिक पदों के अतिरिक्त जुलाहों, बुनकरों, व्यापारियों तथा खेतिहर आबादी के विभिन्न धंधों से संबंधित पेशेवर शब्दावली का उपयोग भी कबीर की बानियों में बहुतायत से मिलता है।

धर्मसाधना, दर्शन, काव्यपरम्परा, कृषि, व्यापार, दस्तकारी और हाट बाजार - इन सभी स्रोतों से लिये गये शब्दों के बाहुल्य ने कबीर की बानियों में ताजगी, सादगी, जिंदादिली और सजीव व्यंजकता का संचार कर दिया है। सामाजिक तथा धार्मिक विवाद से जुड़े प्रश्नों पर कबीर की भाषा सीधी चोट करने, विरोधियों को मर्माहत करने और भेद की बात को धारदार ढंग से खोलकर रखने की अद्भुत सामर्थ्य का परिचय देती है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी की यह स्थापना लोकोक्ति का रूप ले चुकी है :

“भाषा पर कबीर का जबर्दस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में कहना चाहा है उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा दिया - बन गया तो सीधे सीधे, नहीं तो देररा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार सी नजर आती है।” (कबीर, पृष्ठ 170)

### कबीर की भाषा की शक्ति

कबीर की भाषा पर अपनी टिप्पणी के क्रम में आचार्य द्विवेदी ने एक अन्य स्थल पर यह भी कहा है कि “कबीर की भाषा से ज्यादा साफ और जोरदार भाषा की संभावना भी नहीं है।” (वही, पृष्ठ 174) आखिर भाषा के ये गुण कबीर में आये कहाँ से? जाहिर है आप यह भी जानना चाहेंगे कि जब वे पढ़े लिखे नहीं थे तो फिर युग-युग तक जीवित रहने वाला यह क्लासिक साहित्य उन्होंने रचा कैसे? जिस साखी में कबीर ने मसि कागद छुवों नहीं/कलम गहों नहिं हाथ’ जैसी अभिव्यक्ति की है, उसी में उनका यह भी वक्तव्य है - “कबीर मुखहि जनाई बात।” इस वक्तव्य को यदि आप संतों की काव्यसृजन प्रक्रिया की कुंजी बनायें तो बहुत सारी बातें स्पष्ट हो जायेंगी। मसलन यह बात स्पष्ट होगी कि उस युग के सामाजिक और धार्मिक विवादों ने संतों और दलित-उत्पीड़ित जनता के बीच सवाल-जवाब, बहस और ज्ञानोदय की एक नई वाचिक परम्परा का सूत्रपात किया था। इस परंपरा को गढ़ने और विकसित करने में लोकायत, सांख्य, जैन, सिद्ध और नाथों के अलावा सूफियों का बहुत बड़ा योगदान था। ब्राह्मणवाद और वैदिक संस्कृति के विरुद्ध संघर्ष में शास्त्रीय ग्रंथों को नकारने तथा अनुभव के आधार पर नई तर्कव्यवस्था निर्मित करने में भ्रमणशील श्रमणों की पहली युक्ति यही होती थी कि पोथियों और शास्त्रों को छोड़ो, जब तक इनसे छुटकारा नहीं पते तब तक तुम ज्ञान का साक्षात्कार नहीं कर सकते। “पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोई” जैसे अनेक उक्तियाँ इसी तथ्य की पुष्टि करती हैं। आत्म-तत्व, परम सत्य और प्रेम जिस शिखर पर अवस्थित हैं, वहाँ पहुँचने का रास्ता फिसलन भरा है। यहाँ तक कि चोटी भी उस रास्ते को पार न कर फिसल कर गिर पड़ती है। पर इन मूर्ख पंडितों को तो देखो, जो वहाँ पहुँचने के लिए बैलों पर अपनी ज्ञानगठरी लाद कर चल पड़े हैं :

कबिरा का घर सिखर पर, जहाँ सिलहली गैल।

पाँव न टिकै पिपीलिका, पंडित लादे बैल।।

अपने जीवनानुभव के साक्ष्य पर आधारित तर्कों से कबीर पंडित को, मुल्ला को, धार्मिक मठाधीशों को, योगियों और अवधूतों को निरुत्तर कर देते हैं; जातिप्रथा के समर्थकों की बोलती बंद कर देते हैं; धार्मिक कर्मकांड और बाह्य आडम्बरों की धजियाँ उड़ा देते हैं। दरअसल यह सब शब्द चयन, कथनभंगिमा और भाषा की व्यंजनाशक्ति का कमाल न होकर सामाजिक दृष्टि से प्रासंगिक नई तर्कप्रणाली की शक्ति है जो कबीर की बानियों में प्रखरता, ओज और नई स्फूर्ति उत्पन्न करती है। आजीविका के लिए मेहनत-मशक्कत करने वालों की यह स्पन्दनशील वाग्धारा है जिसका आवेग परजीवी समाज की शास्त्रबद्ध रूढ़िवादिता की चट्टान पर निरंतर आघात कर रहा है। वस्तुतः उस युग के संदर्भ में यह भाषा नहीं, बल्कि जन-जन की भाखा है - भाखा बहता नीर।

कबीर की काव्यभाषा की शक्ति का मूल्यांकन शास्त्रीय मानदंडों के आधार पर करना व्यर्थ है। यद्यपि इस काव्यभाषा में अनेक स्थलों पर उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुत-प्रशंसा, काव्यलिंग जैसे अलंकारों के चमत्कार और उनकी छटा मिल जायगी, पर कृतिकार के कवित्व की आत्मा अलंकार सौंदर्य में अंतर्निहित नहीं है। सारभूत सत्यों को चुभने वाली मार्मिक उक्तियों में ढालने की यह कला सपाट-बयानी को भी सजीव और विचारोत्तेजक बना देती है।

विभिन्न प्रकार के श्रोतासमूहों को संबोधित कबीर की बानियों के तेवर और मिजाज से उनकी काव्यभाषा में विविधता आई है। बातचीत-बहस, समझाने-बुझाने और तर्क-वितर्क करने वाली सीधी-सादी भाषा भी चोट और व्यंग्य के कारण धारदार हो गई है। पर भक्ति और प्रेम की व्यंजना करने वाली बानियों में अजीब सी मिठास, निजी एकान्त साधना की तल्लीनता और घनीभूत रसमयता है। उलटबाँसियों में उलटीपुलटी कथनभंगिमा और अनेकार्थी प्रतीक-योजना कहीं-कहीं धक्कामार चमत्कारप्रियता का आस्वाद प्रदान करती है, कहीं बौद्धिक दुरूहता के आवरण में रहस्य के उद्घाटन के लिए आमंत्रित करती है। प्रचलित शब्दों के वाच्यार्थों पर निर्भर रहकर कबीर की उलटबाँसियों को नहीं समझा जा सकता। इसके लिए सिद्धों और नाथपंथियों की साधना संबंधी शब्दावली के निश्चित पारिभाषिक अर्थों तथा प्रतीकयोजना के अभिप्रायों को जानना आवश्यक होता है। इसीलिए इन रचनाओं के प्रसंग में यह कहा जाता है कि ये 'संधा भाषा' में रचित हैं अर्थात् रहस्य से आवृत्त अभिप्रायों को व्यंजित करने वाली भाषा में। कबीर की बानियों में व्यवहृत 'संधा भाषा' की प्रणाली सिद्धों और नाथों की 'संधा भाषा' जैसी ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि शास्त्र-ज्ञानी पंडितों की परीक्षा लेने तथा उनके ज्ञानदर्प को चुनौती देने के उद्देश्य से उन्होंने अनेक उलटबाँसियों की रचना की थी। उदाहरण के लिए आप इस पद को देख सकते हैं :

ऐसा अद्भूत मेरे गुरु कथा, मैं रहा उमेषै ।  
 मूसा हस्ती सौ लड़ै, कोई बिरला पेषै ।।  
 मूसा पैठा बाँबि मैं, लारै साँपिनि धाई ।  
 उलटि मूसै साँपिनि गिली, यहु अचरज भाई ।।  
 चींटी परबत उखारिया, लै राख्यौ चौड़े ।  
 मुर्गी भिनकी सों लड़ै, मल पांनी दौड़े ।।  
 सुरही चूषै बछतलि, बछा दूध उतारै ।  
 ऐसा नवल गुंनी भया, सार दूलहिं मारै ।।  
 भील लुका बन बीझ मैं ससा सर मारै ।  
 कहैं कबीर ताहि गुर करौ, जो या पदहिं विचारै ।।

इस उलटबाँसी द्वारा मूलतः यह कहने का प्रयत्न किया गया है कि सामान्य जीव यद्यपि विषयों के वश में रहता है पर जो सिद्ध साधक होता है वह विषयों पर नियंत्रण कर लेता है। कबीर कहते हैं - मेरे गुर ने एक अद्भुत सत्य का कथन किया; मैं अचरज में पड़ गया (उमेषै)। अचरज की बात यह है कि चूहा हाथी से लड़ पड़ा (अर्थात् साधक माया को पछाड़ बैठा)। इस घटना को कोई बिरला ही जान पाया है। साधक (चूहा) विषयों (बाँबी) में पैठ गया और विषय रूपी सर्पिणी उसके पीछे पड़ गई। किंतु अचरज की घटना तो यह है कि चूहे ने पलट कर साँप को निगल लिया अर्थात् साधक विषयों को वशीभूत कर लेता है। साधक की अंतःवृत्ति (चींटी) ऐसी होती है कि वह विषय रूपी पर्वत को उखाड़ फेंकती है और उसे गड्ढे में फेंक देती है। साधक (मुर्गी) वासना (बिल्ली) से लड़ पड़ता है और विषयासक्ति की अग्नि भक्ति के जलाशय का रूप ले लेती है। गाय बछड़े के नीचे भाग को मुँह से चूसती है अर्थात् भक्ति से आत्मतत्त्व की प्राप्ति होती है और आत्मतत्त्व बोध (बछड़ा) से आनन्द (दूध) की सृष्टि होती है। साधक का चित्त (नेवला) ऐसा गुणी हो गया है कि वह वासना से उन्मत्त सिंह को मार डालता है। मोह रूपी शिकारी डर के मारे सघन वन में छिप जाता है और साधक (खरगोश) उस पर ज्ञान के बाण से प्रहार करता है। कबीर का कहना है कि जो इस पद के अर्थ को समझ कर बता देगा, उसे मैं

अपने गुरु के रूप में स्वीकार कर लूँगा। कबीर पंथी संत आज भी राग रामकली में खँजड़ी पर इस उलटबाँसी को गाकर पंडितों को चुनौती देते हैं।

इस पद से आप समझ गये होंगे कि उलटबाँसी क्या चीज है। आपने देखा कि उलटीपुलटी भाषा में गुत्थी रखने, किसी सत्य को पहेली के रूप में पेश करने और असंभव घटनाओं की अतिरिक्त कल्पनाओं के प्रतीकात्मक अर्थ व्यंजित करने के उद्देश्य से रचित बानियों की भाषा को 'संधा भाषा' की संज्ञा दी गई थी।

कबीर को संधा भाषा में रचित उलटबाँसियों की यह परम्परा सिद्धों और नाथों से मिली थी। उदाहरण के लिए सिद्धों की बानियों के संग्रह 'चर्यापद' तथा गोरखनाथ की बानियों के संग्रह 'गोरखबानी' को आप देख सकते हैं। सिद्ध डिंडिया कहते हैं बैल ब्याता है, गाय बांझ रहती है और बछड़ा तीनों समय दुहा जाता है। इसी तरह गोरखनाथ एक पद में कहते हैं जल में आग लगी, मछली पर्वत पर चढ़ गई और खरगोश जल में रहता है। ये सारे शब्द प्रतीक हैं जो सातवीं-आठवीं सदी से ही योगियों की साधना में अन्य अर्थ की व्यंजना के लिए उपयोग में लाये जाते रहे हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'कबीर' नामक पुस्तक के एक अध्याय 'योग परक रूपक और उलटबाँसियाँ' में ऐसे शब्दों की तालिका प्रस्तुत की है। मेरा परामर्श है कि आप लोग इसे अवश्य पढ़ें। इसी अध्याय में बताया गया है कि बौद्ध साहित्य के एक वक्तव्य के आधार पर सहज यान और वज्र यान के साधको ने 'संधा भाषा' पद का प्रयोग किया था। महामहोपाध्याय पंडित विधुशेखर भट्टाचार्य की यह मान्यता है कि संधा भाषा मूलतः संस्कृत 'संधाय' शब्द का अपभ्रष्ट रूप है जिसका अर्थ होता है अभिप्राय युक्त भाषा। परन्तु हिन्दी के अनेक विद्वानों ने इसका रूप बदल कर 'संध्या भाषा' कर दिया और गीधूलि बेला जैसी स्थिति के अर्थ में - अथवा अंधेरे और प्रकाश के बीच की अस्पष्ट स्थिति के अर्थ में इसे प्रचारित कर दिया।

### 6.3 कबीर की भाषा में व्यंग्य

जनसाधारण को धर्मान्ध बनाने वाले पंडित और मुल्ला से कबीर सार्वजनिक रूप से प्रश्न पूछते हैं। कबीर के प्रश्नों की तर्कशक्ति में गहरा व्यंग्य छुपा रहता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पद रमैनी से उद्धृत है -

पढ़ि-पढ़ि पंडित करू चतुराई, निज मुक्ति मोहिं कहु समुझाई।  
 कहँ बस पुरुष कहौं सो गाऊँ, पंडित मोहिं सुनावहु नाऊँ।  
 चारि वेद ब्रह्ममें निज ठाना, मुक्तिक मर्म उनहुँ नहिं जाना।  
 दान-पुण्य उन वहुत बखाना, अपने मरन की खबरि न जाना।  
 एक नाम है अगम गँभीरा, तहवाँ स्थिर दास कबीरा।।  
 चिउँटी जहाँ न चढ़ि सकै, राई न ठहराय।  
 आवागमन की गम नहीं, तहँ सकलो जग जाय।।

हे पंडित! तुम शास्त्र पढ़-पढ़ कर चतुराई करते फिरते हो और लोगों के बीच मुक्ति के विषय में उपदेश झाड़ते हो। जरा मुझे भी तो समझाओ कि तुमने मुक्ति का स्वयं क्या अनुभव किया है? लोगों को तो यह बताते हो कि मुक्ति परम पुरुष से मिलन है - लेकिन मुझे यह तो बताओ कि वह परम पुरुष कहाँ वास करता है? उसका गाँव कहाँ है? उस परम पुरुष का नाम क्या है?

(जब पंडित चुप लगा जाता है तो कबीर फिर कहते हैं :) तुम बताते रहते हो कि ब्रह्म ने चारों वेदों की रचना की। पर क्या वे भी मुक्ति का मर्म जान पाये? तुम कहते हो कि मुक्ति के लिए ब्रह्मा ने दान-पुण्य का बार-बार बखान किया है। पर मैं पूछता हूँ कि क्या उन्हें भी अपनी मृत्यु की खबर थी? क्या उन्हें पता था कि मृत्यु के बाद क्या होता है? कबीर तो सिर्फ एक तत्व को जानता है जो कि अगम और गंभीर है। कबीर उस एक तत्व पर अडिग रूप से कायम है - और वह परम तत्व है आत्मतत्व।

इस परम तत्व तक चींटी (मन) भी नहीं पहुँच सकती और न वहाँ बुद्धि (राई) स्थिर होकर रुक सकती है, यह आत्म-रूपी परम तत्व आवागमन से परे है और देशकाल से भी परे है। अज्ञान के बंधन से छुटकारा पाकर ही

आत्मरूपी परम तत्व की अनुभूति हो सकती है यह आत्मानुभूति ही मुक्ति है। कबीर मूर्तिपूजा के खंडन के सिलसिले में टिप्पणी करते हैं-

पाहन पूजे हरि मिले तो मैं पुजौं पहाड़।  
याते वह चक्की भली पीस खाय संसार।।

पत्थर की देवमूर्ति की तुलना में चक्की कहीं बेहतर है जो रोजाना आटा पीसने के काम आती है। इस प्रकार की साखियों में धार्मिक आडम्बर के खंडन से एक सत्य की उद्घोषणा होती है। कबीर यह भी कहते हैं कि देखो तो भला - 'मूरति से दुनिया फल माँग, अपने हाथ बनाये।' अपने ही हाथों रची गई मूर्ति से दुनिया फल मांगती है, उसकी पूजा-अर्चना करती है। 'साधो देखो जग बौराना' शीर्षक पद में कहा गया - "आतम छोड़ि पषानै पूजै तिनका धोथा ज्ञाना। आसन मारि डिंभ धरि बैठे मन में बहुत गुमाना।।" निर्जीव पत्थर को लोग परब्रह्म परमेश्वर के रूप में सत्य मान बैठे हैं, जबकि अपने भीतर अवस्थित आत्मचेतना को, आत्मसत्ता को पहचानने-स्वीकारने के लिए तैयार नहीं हैं। मुसलमानों की भी यही स्थिति है

कांकड़ पाथर जोड़ि कै मस्जिद लई चुनाय।  
ता चढ़ि मुल्ला बांग दे क्या बहरा हुआ खुदाय।।

खुदा सर्वव्यापक है तो फिर जोर से पुकारने का क्या मतलब? क्या वह बहरा है? काजी की कथनी और करनी में अंतर का उल्लेख कर कबीर कहते हैं -

कबीर काजी स्वादि बसि, ब्रम्ह हतै तब दोइ।  
चढ़ि मसीति एकै कहै, दरि क्यों साँचा होइ।।

जब काजी स्वादि के वशीभूत होकर जीव का वध करता है, उस समय वह ब्रह्म को द्वैत की दृष्टि से देखता है - अर्थात् अपने लिए एक ब्रह्म और जीव के लिए दूसरा ब्रह्म। किंतु मस्जिद पर चढ़कर जब 'ला इलाह इल्लिल्लाह' की घोषणा करते हुए बांग देता है तो वह यह एलान कर रहा होता है कि ब्रह्म एक है। ईश्वर के दरबार में काजी क्या सफाई देगा?

कलियुग के स्वामी-संन्यासी पर व्यंग्य और छींटाकशी के द्वारा उनका चरित्र उद्घाटित किया गया है। कबीर की साखी है -

कलि का स्वामी लोभिया, पीतल धरी खटाइ।  
राजदुबारे यों फिरैं, ज्यों हरहाई गाइ।।

कलियुग के दिखावटी साधु लोभी होते हैं जैसे पीतल के बर्तन में पड़ी खटाई। दूसरों के खेत चलने वाली गाय के समान राजदरबारों में लोभवश चक्कर काटते रहते हैं। इसी तरह गोरखपंथी योगियों के बाह्य आडम्बरों पर भी कबीर की दृष्टि पड़ी। उन्होंने पूछा -

मन न रंगाए, रंगाए जोगी कपरा।  
आसन मारि मंदिर में बैठे, नाम छोड़ि पूजन लागे पथरां।  
कनवा फड़ाय जोगी जटवा बढ़ौलें, दाढ़ी बढ़ाय जोगी होइ गैले बकरा।  
जंगल जाय जोगी धुनिया रमौले, काम ज़राय जोगी होय गैले हिजरा।।  
मथवा मुँडाय जोगी कपड़ा रंगौले, गीता बाँच के होय गैले लबरा।  
कहत कबीर सुनो भाई साधो, जम दखजवाँ बाँधल जैबे पकरा।।

यह उल्लेखनीय है कि कबीर सिर्फ हिन्दू-मुस्लिम कर्मकांड का ही भंडाफोड़ नहीं करते बल्कि सिद्धों, जोगियों, शैवों, शाक्तों और जैनियों के साधना-संबंधी झूठे आडम्बरों और बाह्याचारों की भी खिल्ली उड़ते हैं।

जातिप्रथा के समर्थकों - खासकर ब्राह्मणवादी पंडितों पर कबीर ने गहरा चुभता हुआ व्यंग्य किया था-  
जो तुम बाम्हन बाम्हनि जाये। आनबाट तुम काहे न आये?

मध्ययुग के सामाजिक रूढ़िवाद, शास्त्रीय पुरोहितवाद और कथनी-करनी में अंतर बरतने वाले पाखंडी समाज की अनैतिकता पर तर्कबाण बरसाने के क्रम में कबीर के काव्य की व्यंग्यात्मकता गहरी मार करती है। इस दृष्टि से मध्ययुग के सर्वाधिक जागरूक कृतिकार के रूप में वे आज भी प्रासंगिक बने हुए हैं। कबीर के व्यंग्य उनकी युगबोधक चेतना के औजार के रूप में लोकोक्ति का रूप ले चुके हैं।

### कबीर की काव्यभाषा का सौंदर्य

कबीर ने अपने जमाने की जीती जागती रोजमर्रा की भाषा में अपनी बानियों की रचना की है। उनकी कविताओं में विभिन्न स्रोतों से शब्दों का चयन किया गया है। एक तरफ संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के जन-प्रचलित तथा आवश्यकतानुसार पारिभाषिक शब्द लिये गये हैं, तो दूसरी तरफ अरबी-फारसी स्रोत से आये शब्दों की संख्या भी काफी है। आधुनिक भारतीय भाषाओं का यह अम्युदय काल है। अतः खंडी बोली, ब्रजभाषा, अवधी, राजस्थानी, भोजपुरी के उच्चारण तथा शब्दसंगीत ने कबीर की बानियों में अद्भुत ढंग की सजीवता का संचार किया है। राम स्वरूप चतुर्वेदी ने कबीर की भाषा की सृजनधर्मी विविधता की ओर इशारा करते हुए ठीक ही कहा है 'कबीर में कई तरह के रंग हैं, भाषा के भी और संवेदना के भी। हिन्दी की बहुरूपी प्रकृति उनमें खूब खुली है।' (हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, पृष्ठ 46)

कबीर अपने समय की जिस दलित-पीड़ित जनता को संबोधित कर रहे थे, उसके सगे अनुभवों की निधि से ही शब्द, वाक्यांश, मुहावरे, क्रियापद और चुस्त उक्तियाँ छांटते थे। कबीर समेत सभी मध्यकालीन संतों ने सिद्धों-नाथों की वाचिक परम्परा का परिष्कार किया था। संतों की वाग्धारा की टकसाल से निकलने वाली बानियों पर जनसाधारण के संघर्ष और कष्ट से परिपूर्ण जीवनानुभव की गहरी छाप है। सत्य की आँच में तपी और ढली कबीर की काव्यभाषा में एक ओर यदि दो टूक खरापन है, तो दूसरी ओर उस जमाने की पीड़ित मानवता के लिए करुणा और गहरी आत्मीयता भी। अगर आई.ए. रिचर्ड्स की भाषा में आलोचनात्मक मूल्यांकन के नये मानदंड की दृष्टि से देखें तो पता चलता है कि भाषिक संरचना में कबीर एक तनाव के कम्पन को बनाये रखते हैं। तार्किकता और प्रेम की सहजानुभूति के बीच सेतु भी है और टक्कर भी। कहना चाहिए कि कबीर का सृजनकर्म इसी तनी हुई प्रत्यंचा पर अपनी टंकार प्रतिध्वनित करता है जिससे संभाव्य अर्थों के झरोखे खुलने लगते हैं।

### काव्यरूप और छंदविधान

कबीर की बानियों में 14 काव्यरूपों का उपयोग हुआ है। उदाहरण के लिए साखी, सबदी, रमैनी, चौंतीसा, चाँचर, हिंडोली, विप्रमतीसी आदि। ये सभी काव्यरूप सिद्धों और नाथों की काव्यपरम्परा से संत कवियों को प्राप्त हुए थे। यद्यपि ये सभी काव्यरूप लोक गीतों की वाचिक परम्परा में भी उपलब्ध थे, पर जोगियों की बानियों में इनके पदबंध और रूपविन्यास एक निश्चित स्वरूप ग्रहण कर चुके थे। अतः इस्तेमाल में घिसे जा चुके रूपबंधों को कबीर ने अपनी प्रतिभा से और भी क्षमतावान बना दिया। इस संदर्भ में 'साखी' का उल्लेख किया जा सकता है। संस्कृत शब्द साक्षी का ही अपभ्रंश रूप साखी है। सिद्ध साहित्य और नाथ साहित्य में इस काव्यरूप को ज्ञान की आंख माना गया। किसी अद्भुत सत्य की प्रतीति कराने के उद्देश्य से प्रायः 'साखी' का ही उपयोग किया गया। कबीर की बानियों में रमैनी एक ऐसा काव्यरूप है जिसमें दोहा और चौपाई छंदों का सम्मिलित प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त चाँचर ऐसा लोकछंद है जो वसन्त ऋतु के मादक परिवेश के अनुकूल माना जाता है। कबीर की बानियों में प्रेमानुभूति तथा आध्यात्मिकता की संवेदना व्यक्त करने के लिए प्रायः चाँचर का प्रयोग किया गया। उनके मेय पदों में हिंडोला, कहरा, बेलि आदि को अपनाया गया है।

छंदों की दृष्टि से दोहा, सोरठा, चौपाई, वीर, अरिल्ल, तांटक, लावनी, उल्लाला आदि का भरपूर उपयोग कबीर के काव्य में देखा जा सकता है। 'कबीर मीमांसा' नामक अपनी पुस्तक में डॉ. रामचंद्र तिवारी ने यह माना है कि छंदों के प्रयोग में कबीर के यहाँ त्रुटियाँ बहुत हैं। डॉ. तिवारी इसका संदर्भ सहित स्पष्टीकरण करते हैं - "छंदों की रचना करते समय भी कबीर ने संगीत को ही महत्व दिया है और इसी कारण छंदों की शास्त्रीय मर्यादा भंग हो गई है।" (वही, पृष्ठ 158)

अज भी उत्तर भारत में योगियों और संतों की रमती हुई टोलियों और उनके पंथों के आश्रमों में बानियों के गायन की परम्परा मौजूद है। राजा भरथरी के गीत गाने वाले जोगी तथा कबीर पंथी संत इस परम्परा की अलग-अलग प्रकार की कड़ियाँ हैं।

गुरु ग्रंथ साहिब में संगृहीत कबीर के पद विभिन्न रागों में वर्गीकृत कर प्रस्तुत किये गये हैं। मसलन सिरी राग, रागु गउड़ी, रागु आसा, रागु गूजरी आदि के संकेत पद के अंत में दे दिये गये हैं। डॉ. रामचंद्र तिवारी का अनुमान है कि कबीर को तत्कालीन वाद्यों की बनावट का ज्ञान था; उनके ध्वनिभेदों से भी वे परिचित थे। दरअसल सांसारिकता के जंजाल में फंसे लोगों की रागद्वेष ग्रंथि को विगलित करने और हृदय की तरलता की मधुर व्यंजना करने में संगीत का उपयोग संतों के द्वारा भी होता रहा है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कबीर की काव्यभाषा संगीत के नाद तत्व से परिपूर्ण है। काव्य भाषा में सौंदर्य की सृष्टि में लोकछंदों तथा संगीत तत्व का यह योग कबीर को अद्वितीयता प्रदान करता है।

## 6.4 कबीर के काव्य में भावसौंदर्य और कलात्मक सौष्ठव

कबीर को मध्ययुग के क्रांतिकारी समाजसुधारक के रूप में आसानी से स्वीकृति मिल जाती है, पर एक महत् कृतिकार अथवा एक श्रेष्ठ कवि के रूप में उनकी पहचान कायम करने में अनेक प्रकार की मुश्किलें रही हैं। साफ तौर पर दो टूक भाषा में तो किसी ने भी नहीं कहा कि कबीर कवि नहीं है, कि उनकी कविता बेकार है, कि उनकी बानियाँ कलाशून्य हैं। पर अगर-मगर, लेकिन-परन्तु लगाकर तुलसी, सूर और जायसी की तुलना में कबीर को समकक्षता का दर्जा देने से इन्कार किया जाता रहा है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास ग्रंथ में ज्ञानाश्रयी शाखा की रचनाओं को साहित्य मानने से ही इन्कार कर दिया, यद्यपि कबीर को इसके अपवाद के रूप में उल्लिखित कर उनकी प्रतिभा का लोहा मान लिया :

“इस शाखा (ज्ञानाश्रयी) की रचनाएँ साहित्यिक नहीं हैं - फुटकल दोहों या पदों के रूप में हैं जिनकी भाषा और शैली अधिकतर अव्यवस्थित और ऊटपटांग है। कबीर आदि दो एक प्रतिभा संपन्न संतों को छोड़ औरों में ज्ञानमार्ग की सुनी-सुनाई बातों का पिष्ट-पेषण तथा हठयोग की बातों के कुछ रूपक भरी तुकबंदियों में हैं। भक्तिरस में मग्न करने वाली सरलता भी बहुत कम पायी जाती है। बात यह है कि इस पंथ का प्रभाव और शिक्षित जनता पर नहीं पड़ा, क्योंकि उसके लिए न तो इस पंथ में कोई नई बात थी, न नया आकर्षण। संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय और संस्कृत वाणी का वह विकास इस शाखा में नहीं पाया जाता जो शिक्षित समाज को अपनी ओर आकर्षित करता। पर अशिक्षित और निम्नश्रेणी की जनता पर इन संत महात्माओं का बड़ा भारी उपकार है। उच्च विषयों का कुछ आभास देकर, आचरण की शुद्धता पर जोर देकर, आडम्बरों का तिरस्कार करके, आत्म गौरव का भाव उत्पन्न करके, इन्होंने इसे ऊपर उठाने का स्तुत्य प्रयास किया। पाश्चात्त्यों ने इन्हें जो “धर्मसुधारक” की उपाधि दी है, वह इसी बात को ध्यान में रखकर।” (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 66)

आचार्य शुक्ल के मूल्यांकनों के चौखटे में दिखाया गया है कि कबीर साधुओं का सत्संग भी करते थे और जुलाहे का काम भी करते थे। कबीर ने मुसलमान फकीरों का भी सत्संग किया था। वे किसी को भी “ज्ञानी या बड़ा मानने के लिए तैयार नहीं थे।” कबीर ने सूफियों के ढर्रे पर ईश्वर को उपासना ही नहीं प्रेम का भी विषय बनाया और उसकी प्राप्ति के लिए हठयोगियों की साधना का समर्थन किया। इस प्रकार, आचार्य शुक्ल के अनुसार - “उन्होंने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और जैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद का मेल करके अपना पंथ खड़ा किया। उनकी बानी में ये सब अवयव अवश्य स्पष्ट लक्षित होते हैं।” (वही, पृष्ठ 72)

“यद्यपि वे पढ़े लिखे न थे पर उनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर थी जिससे उनके मुँह से बड़ी चुटीली और व्यंग चमत्कारपूर्ण बातें निकलती थीं। उनकी उक्तियों में विरोध और असंभव का चमत्कार लोगों को बहुत आकर्षित करता था।” (वही, पृष्ठ 73)

इससे स्पष्ट है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल कबीर की उलटबौंसियों के चमत्कार, गूढ़ ज्ञान तथा सूफियों जैसे ईश्वर प्रेम के कारण उनकी प्रतिभा का लोहा मानते थे वरना एक महत् कृतिकार के रूप में मान्यता देने के पक्ष वे नहीं थे। इसके पीछे जो तर्क है, उस पर विचार करना आवश्यक है। अरूप परम सत्ता से प्रेम को व्यक्त करने वाली बानियों में योगमार्ग या हठयोग की शब्दावली भरी है तथा सूफियों की भावसाधना से लिया गया रागात्मक तत्व छाया हुआ है। ये बानियाँ गूढ़ ज्ञान तथा वैचित्र्य बोध के चमत्कारों के कारण विस्मित-चकित अवश्य करती हैं;



काव्य की मार्मिक संवेदना की अभिव्यक्ति की दृष्टि से ये रचनाएँ महत्वहीन हैं। अतः ऐसी रचनाओं में “संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय और संस्कृत वाणी का विकास” न हो सका। ये रचनाएँ धर्मसुधार की दृष्टि से अपनी प्रचारात्मकता और तर्कवितर्क में महत्वपूर्ण हो सकती हैं, पर साहित्यिक सौष्ठव और सांस्कृतिक परंपरा के उन्नयन की दृष्टि से महत्व-शून्य है।

सांस्कृतिक परंपरा के निर्माण में ऊँची जातियों के कुलीनतावादी दृष्टिकोण अर्थात् वैदिक-पौराणिक संस्कृति के आग्रहों से कबीर तथा अन्य निरगुनिया संतों के काव्य के मर्म को समझा नहीं जा सकता। आप लोगों को इस बात की सूचना अवश्य होगी कि हिन्दी समालोचना के क्षेत्र में प्रचलित कबीर-विरोधी दुराग्रहों पर लगातार चर्चा हुई है और उनके खंडन के क्रम में कबीर पर पुनर्विचार संभव हो सका है। इस सिलसिले में रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा किये गये कबीर-काव्य के अंग्रेजी भावानुवाद, क्षितिमोहन सेन की कबीर तथा संत साहित्य पर लिखी टिप्पणियों - यानी कुल मिलाकर बंगाल नवजागरण के प्रभाव से नई आलोचना - दृष्टि का विकास हुआ। इस आलोचना-दृष्टि को अत्यंत सक्षम ढंग से ‘कबीर’ नामक अपनी पुस्तक में हजारी प्रसाद द्विवेदी ने विस्तार से उजागर किया है।

‘कबीर वाणी’ नाम से संपादित एक नई पुस्तक में इधर अली सरदार जाफरी ने वही काम किया है जो एक जमाने में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने किया था अर्थात् कबीर के काव्य के मर्म को भावानुवाद के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयास। इन भावानुवादों के माध्यम से कबीर की बानियों के भावसौंदर्य और कलात्मक परिष्कार को नये सिरे से समझने में मदद मिलती है। अली सरदार जाफरी द्वारा लिखी गई भूमिका तथा उनके भावानुवादों से मध्ययुग के इस निरगुनिया संत की बानियों की समकालीन अर्थवत्ता अच्छी तरह उद्घाटित होती है। उस युग के संदर्भ में इन कविताओं का तात्कालिक रागबोध और सहज मानववाद भी अच्छी तरह व्यंजित होता है। सौभाग्य की बात है कि कबीर के संबंध में हिन्दी के नये आलोचकों और पाठकों का दृष्टिकोण बदला है। तभी भक्तिकाल के प्रारंभिक उत्थान की काव्यधारा के मूल में स्थित सिद्ध-नाथ परंपरा के साहित्य को भी समझने का प्रयास नये ढंग से हो रहा है, मराठी के ज्ञानेश्वर और नामदेव के साथ हिन्दी संतकवियों के संबंधों पर भी नया प्रकाश पड़ सका है और आख्यानधर्मी प्रबंधत्व से अलग हटकर मुक्तक परंपरा की विभिन्न धाराओं के दौरान हुई नई उद्भावनाओं की व्याख्या की चुनौती को भी गंभीरता से लिया जा रहा है।

कबीर की बानियाँ एक निश्चित श्रोतासमूह को संबोधित करने के उद्देश्य से रची गयी प्रतीत होती हैं। ये कविताएँ पढ़ने के लिए नहीं बल्कि सुनने-सुनाने के लिए रची गयी थीं। अपने युग के अविवेक के विरुद्ध संघर्ष के औजार के रूप में ये बानियाँ गढ़ी गयी थीं। कहना चाहिए कि साक्षात् लौकिक अनुभवों के मर्म से नयी विवेकशीलता के संचार का यह प्रयत्न उस युग के धार्मिक-सामाजिक विवाद, तर्कवितर्क और वैचारिक आदान-प्रदान का हिस्सा बन गया था। एक ओर शास्त्रीय ज्ञान था, दूसरी ओर अनुभव पर आश्रित यह नया विवेक - जिसे कबीर अपनी बानियों में बार-बार ‘ज्ञान’ की संज्ञा देते हैं। ज्ञान की इस आँधी के पक्ष में वे एक आंदोलन के प्रणेता हैं - एक ऐसे आंदोलन के सूत्रधार हैं जो हर प्रकार की रूढ़ि से टकरा रहा है, वर्णाश्रम व्यवस्था की जकड़बंदी से टकरा रहा है, वैदिक-पौराणिक संस्कृति की संस्थाओं से टकरा रहा है और साथ ही श्रमजीवी जोगियों और दलित जातियों के पेशेवर समूह के बीच प्रचलित नाथपंथ का संस्कार कर उसे ज्ञानाश्रयी संतकाव्य परम्परा का नया रूप देकर परिष्कृत कर रहा है। कबीर किसी भी सत्य को अपनी विवेक बुद्धि की कसौटी पर परखने के पक्ष में हैं - उनका ज्ञान, पारख ज्ञान है। वे किसी भी कथन को स्वतः प्रमाण नहीं मानते - वेद को भी नहीं, स्मृति को भी नहीं। वे यह नहीं मानते कि वेद ईश्वर रचित हैं बल्कि वे तर्क करते हैं कि ईश्वर स्वयं मनुष्य की कल्पना है, मनुष्य ने उसकी रचना की है। शास्त्रीय पुरोहितवाद से कबीर की यह सीधी टक्कर थी, आमने-सामने की मुठभेड़ जैसी। वे लोक में प्रचलित अंधविश्वासों को भी नहीं मानते थे - अतः बार-बार “लोक तथा वेद” दोनों के विरोध का उल्लेख उनकी बानियों में मिलता है। असली कसौटी वे ज्ञान को बनाते हैं - “जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ग्यान।”

ऐसे सैकड़ों पद हैं जो किसी स्थापित मान्यता का खंडन करने के उद्देश्य से प्रश्न पूछने की शैली में रचे गये हैं। ये पद तेवर और मिजाज में अक्खड़पन का परिचय देते हैं। कहना न होगा कि इनमें एक संघर्षशील चिंतक की प्रखरता और व्यंग्यपूर्ण वक्रोक्ति की तलखी का बड़ा विचित्र सम्मिश्रण है। ये पद कहीं पांडे को संबोधित हैं, कहीं पंडित को, कहीं काजी को, कहीं मुल्ले को और कहीं हठयोगी अवधूत को। ऐसे ही एक पद को देखें -

पाड़े बूझि पियहु तुम पानी ।  
 जिहि मिटिया के घरमहँ बैठे, तामहँ सिस्ट समानी ।  
 छप्पन कोटि जादव जहँ भीजे, मुनिजन सहस अठासी ।।  
 पैग पैग पैगम्बर गाड़े, सो सब सरि भा माँटी ।  
 तेहि मिटिया के भाँड़े पाड़े, बूझि पियहु तुम पानी ।।  
 मच्छ-कच्छ घरियार बियाने, रुधिर नीर जल भरिया ।  
 नदिया नीर नरक बहि आवै, पसु-मानुस सब सरिया ।।  
 हाड़ झरि झरि गूद गरि गरि, दूध कहाँ ते आया ।  
 सो तै पाँड़े जेवन बैठे, मटियहिँ छूति लगाया ।।  
 बेद कितेब छाँड़ि देउ पाड़े, ई सब मन के भरमा ।  
 कहहिँ कबीर सुनहु हो पाड़े, ई तुम्हरे हैं करमा ।।

पाड़े (कहीं पाड़े जी नहीं कहा जाता), यह तुम्हारी मूर्खता है कि तुम पहले जाति पूछते हो फिर उसके हाथ का पानी पीते हो। तुम जिस मिट्टी के घर में बैठे हो उसमें सारी सृष्टि समायी हुई है। छप्पन करोड़ यादव और अठासी हजार मुनि यहाँ डूब गये और कदम-कदम पर पैगम्बरों की लाशें सड़कर मिट्टी हो गई हैं। ओ पाड़े, ये बर्तन उसी मिट्टी के हैं और तुम जाति पूछकर पानी पीते हो। इस पानी में मगर, कछुए और घड़ियाल बच्चे जनते हैं और उनका रक्त पानी में मिल जाता है। इस नदी के पानी में सारा नरक बहकर आता है और जानवर-इन्सान सब इसमें सड़कर समा जाते हैं। जब हड्डी और गूदा गल जाता है तब दूध बनता है। इस दूध को लेकर पाड़े भोजन करने बैठते हैं लेकिन सारी छुआछूत मिट्टी में मानते हो। ओ पाड़े - वेद और कुरान सबको छोड़ो। ये सब दिल का धोखा हैं। सुनो पाड़े, कबीर कहते हैं कि ये तुम्हारे कर्म हैं जो तुम्हारे सामने आते हैं।

ऐसे पदों में लौकिक वास्तविकता के तर्कों से रूढ़िवादियों को निश्चल करने का प्रयत्न किया जाता था। “पाड़े न करसी बाद-बिबाद, या देही बिन सबद न स्वाद।” इस पद के अंत में कबीर अपने निष्कर्ष पर पहुँच कर कहते हैं - “कबीर ग्यान विचारा” अर्थात् यह शरीर मिट्टी का बना है, क्षण भंगुर है। ज्ञान के प्रकाश से इस संसार को देखो।

हठयोगियों अर्थात् नाथपंथी जोगियों के बाह्य आचार और कर्मकांड पर व्यंग्य करते हुए कबीर ने कितनी तल्खी से अपने एक गीत की रचना की थी - “मन ना रँगाये रँगाये जोगी कपड़ा।”

मूर्तिपूजा, जातिप्रथा, धार्मिक भेदभाव, अंधविश्वास, कर्मकांड, बाह्याचार, तीर्थाटन आदि के खंडन में कबीर की बानियों की तार्किक प्रखरता कविता को भी जीवंत बनाती है। बोधगम्य और लोकग्राह्य सादृश्य-विधान से भरीपूरी सहज-सरल अभिव्यक्ति इन बानियों की खास विशेषता है।

मोको कहाँ दूढे बन्दे, मैं तो तेरे पास में ।  
 ना मैं देवल ना मैं मस्जिद, ना काबे कैलास में ।  
 ना तो कौने क्रियाकर्म में, नहीं योग बैराग में,  
 खोजी होय तो तुरते मिलिहीं, पल भर की तालास में ।  
 कहैं कबीर सुनो भाई साधो, सब स्वाँसों की स्वाँस में ।

परम तत्व किसी मंदिर में नहीं, किसी मस्जिद में नहीं, किसी तीर्थ में नहीं बल्कि हमारे इसी घट के अंदर है; इसी पिंड में ब्रह्माण्ड है - इस तात्विक कथन की अभिव्यक्ति के क्रम में प्रगाढ़ मानवीय लौकिक भावना और सहज संवेदना दिखायी देती है। घर-घर दीप जल रहा है - हर व्यक्ति के अंदर भगवान की ज्योति जल रही है - लेकिन अंधी आंखों को दिखाई नहीं देती - ‘घर-घर दीपक बरै, लखै नहिँ अंध है।’ ‘रमैनी’ के पहले पद में ही ‘जीव रूप यक अन्तरवासा, अन्तर ज्योति कीन्ह परगासा।’ बताकर कबीर यह कहना चाहते हैं कि एक अखंड परम ज्योति जीव के भीतर वास करती है - सबके भीतर वही ज्योति प्रकाशमान है। फिर भी वे आत्म तत्व को छोड़कर पाषाण की पूजा करते हैं। “साधो देखो जग बौराना” में इस “अंतिम खबर” के ज्ञान को ही विवेक बताया गया है। प्रतीक, बिम्ब, अलंकार, धर्मसाधनाओं के पारिभाषिक पदों तथा श्रमशील देहादी आबादी के विभिन्न येशों से संबंधित शब्दावली के उपयोग द्वारा कबीर ने अपने काव्य में अनुभव तथा विवेक पर आधारित विचारतत्व को भी भाव-संवेदना का विषय बनाया है। मध्यकालीन संतकाव्य के अंदर यह मानववादी विचारधारा एक ओर यदि अनुभवाश्रित विवेक पर निर्भर है, तो दूसरी ओर समानता पर आधारित समाज-व्यवस्था की प्रारंभिक कल्पनाओं के बीज भी अपने अंदर समेटे हैं, तीसरी ओर सामाजिक और वैचारिक रूढ़िवाद के खंडन के

लिए धारदार व्यंजना की शक्ति भी रखती है और चौथी बात यह कि रसपूर्ण प्रेमव्यंजना द्वारा परमतत्व के साक्षात्कार की ज्ञानगंभीर भावसाधना की सामर्थ्य से भी संपन्न है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल तथा अनेक परवर्ती आलोचकों ने यह शंका व्यक्त की थी कि परम तत्व से अथवा उपास्य से अपरिचय के कारण प्रेम कैसे हो सकता है? कबीर ने 'परचा को अंग' के अनेक पदों में मानो इसी आशंका का खंडन किया है। वे कहते हैं :

पिंजर प्रेम प्रकासिया जाग्या जोग अनंत ।  
संसा छूटा सुख भया मिल्या पियारा कंत ।।

कबीर की बानियों में भक्ति को रतिभाव के अंतर्गत ही स्थान मिला है। यह रतिभाव कहीं सखा भाव से है, कहीं प्रियाभाव से, कहीं वत्सलभाव से और कहीं दास्य भाव से है।

'रस गगन गुफा में अजर झरै', 'संतो सहज समाधि भली', 'गगन घटा घटरानी साधो', 'अवधू बेगम देस हमारा', 'कोई प्रेम की पेंग झुलावे', जैसे सैकड़ों पद हैं जिनमें उत्कृष्ट कोटि की काव्य-संवेदना और प्रतीकात्मक व्यंजना का सौंदर्य उपलब्ध है।

यदि वैचारिक तर्क-वितर्क वाले पदों को देखें, मसलन जातपाँत, छुआछूत, धार्मिक मतभेद, मूर्तिपूजा, कर्मकांड आदि से संबंधित कबीर की बानियों के काव्यपक्ष पर विचार करें तो पता चलेगा कि ये सारी कविताएँ उस युग के यथार्थ के द्वन्द्व को सारभूत ढंग से उपस्थित करती हैं, अपनी सपाट-बयानी के बावजूद व्यंग्योक्तियों की प्रखरता के कारण लोकचेतना को आंदोलित करने में सकारात्मक भूमिका निभाती रही हैं।

कबीर के एक पद 'अब न बसूँ इहि गाउँ गुसाई' को उस युग की समाज-व्यवस्था के मूलभूत अंतर्विरोध के संदर्भ में नये सिरे से पढ़ना चाहिए। उस जमाने में अकाल, बाढ़, अनावृष्टि, सूखा आदि के कारण जब गाँव के किसान लगान न चुका पाते थे तो दंड और यातना के डर से हजारों हजार की तादाद में गाँव खाली कर भाग जाते थे। ऐसे किसानों की बेरोजगार फौज कस्बों के दस्तकारों और बुनकरों की जमात में शामिल हो जाती थी। बादशाह और जमींदार इन किसानों के पकड़े जाने पर उन्हें भयंकर से भयंकर सजा देते थे और उन्हें जमीन जोतने के लिए फिर उसी गाँव में जबर्दस्ती लौटा लाया जाता था। किसानों की इस दर्दनाक हालत के तत्कालीन सामाजिक संदर्भों को अन्योक्ति शैली में, सादृश्य बतलाते हुए निम्नलिखित पद में अंकित किया गया है -

अब न बसूँ इहि गाउँ गुसाई ।  
तेरे नेवगी खरे सयाने हो राम ।।  
नगर एक तहँ जीव धरम हत, बसै जु पंच किसानां ।  
नैनू नकटूँ श्रवणूँ, रसनूँ, इन्द्री कहा न मानै हो राम ।।  
गाउँ कु ठाकुर खेत कु नेपै, काइय खरच न पारै ।  
जोरि जेवरी खेत पसारै, सब मिलि मोकी मारै हो राम ।।  
खोटी महती विकट बलाही, सिर कसदम का पारै ।  
बुरी दिवान दादि नहिं लागै, इक बांधे इक मारै हो राम ।।  
धरम राइ जब लेखा मांग्या, बाकी निकसी भारी ।  
पांच किसाना भाजि गये हैं, जीव घेर बांध्यो पारी हो राम ।।  
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, हरि भजि बांधी भेरा ।  
अबकी बेर बकसि बदे कौं, बहुरि न भौजलि फेरा ।।

हे गोस्वामी, हे मालिक! अब मैं इस शरीर रूपी गाँव में नहीं रहना चाहता। आपके कारिन्दे अत्यंत सयाने और कठोर हैं। यह शरीर रूपी नगर ऐसा है जिसमें बसने वाला जीव अपने वास्तविक कर्म से - अपने वास्तविक जीवनधर्म से च्युत हो जाता है और उसके अधीनस्थ पाँचो किसान (इन्द्रियाँ) उसके अनुशासन को तोड़ डालते हैं। वे मनमानी करने लगते हैं।

इस शरीर रूपी गाँव का स्वामी तो मन है। कर्म रूपी पटवारी के भोगविलास में व्यय का कोई अंत नहीं होता। जिस तरह अमीन गाँव के खेत को जंजीर से नापता है, उसी तरह तृष्णा और वासना की जेबड़ी सारे शरीर को नाप लेती है, बांध देती है। इस तरह सब ने जीव को जकड़ रखा है।

हे धर्मराज - हे भूस्वामी! इस गांव में आपके द्वारा नियुक्त कारिन्दा बड़ा कठोर है। गांव का मुखिया खोटा है, लगान वसूलने वाला (बलाही) बहुत ही विकट और निर्दय है। वह बड़े-बड़े ताकतवर लोगों के बाल उखाड़ डालता है। ऐसी हालत में मेरे जैसे आदमी की तो गिनती ही नहीं है। इस निर्दय बलाही को मुझसे कोई हमदर्दी नहीं; आपके दीवान से अपील करने पर भी कोई न्याय नहीं मिलता। आपके कर्मचारियों में कोई तो मुझे (जीव को) बांधता है, कोई मारता है और सभी मुझे नाना प्रकार की यातनाएँ देते हैं। मरने के वक्त जब धर्मराज ने मेरे कर्मों का हिसाब माँगा तो मेरे ऊपर बहुत बड़ा हिसाब निकला। अंजाम यह कि पाँचों इन्द्रियों के समान सारे किसान भाग खड़े हुए और मुझ एकाकी जीव को पकड़ कर हाथी का पैर बांधने वाले रस्से से जकड़कर बांध दिया गया। भूस्वामी ने मुझे कितनी बड़ी यातना दे दी है।

कबीर कहते हैं कि हे संतो। सुनो, भगवान के भजन रूपी बेड़े को तैयार करो जिससे यह जीव भवसागर से पार हो जाए (मैदानी इलाकों में किसानों को पकड़ कर लौटा लाया जाता था, अतः नदियों के रास्ते भागने की कोशिश होने लगी)।

आलंकारिक दृष्टि से इस पद में सांग रूपक और यमक की छटा देखी जा सकती है। पर इस पद का काव्य सौंदर्य किसान-उत्पीड़न के सामाजिक संदर्भ की व्यंजना में निहित है।

आत्मा-परमात्मा के मिलन की अभिलाषा से संबंधित पद हों या वियोगिनी की पीड़ा से संबंधित रतिशृंगार के पद हों - कबीर को अद्वैतवादी और वेदांती सिद्ध करने के क्रम में ये बानियाँ अक्सर ही उद्धृत की जाती हैं और इन पदों के काव्यसौंदर्य पर आलोचक की मुहर भी लग जाती है। दूसरी तरफ जातिप्रथा, मूर्तिपूजा, धार्मिक कर्मकांड, हिन्दू-मुस्लिम भेदभाव आदि से संबंधित तर्कवितर्क वाले पदों को उद्धृत कर कबीर के क्रांतिकारी समाजदर्शन की प्रशंसा की जाती है। कबीर के मायावाद और स्त्री-संबंधी उनके दृष्टिकोण की असंगतियों की चर्चा प्रायः नहीं की जाती - यद्यपि कबीर के विचार-दर्शन का यह ऐसा पहलू है जो उनकी ऐतिहासिक भूमिका की सीमा भी स्पष्ट कर देता है। स्त्री-संबंधी दृष्टिकोण की पड़ताल करने पर पता चलता है कि नानक को छोड़कर भक्तिकाल के प्रायः सभी रचनाकार स्त्रियों को माया का प्रतीक और सभी सांसारिक बुराइयों की जड़ बतलाने में आगे बढ़-बढ़कर होड़ा होड़ी कर रहे हैं। सिर्फ गुरु नानक ऐसे संत और समाज सुधारक हैं जो स्त्री को समाज में समुचित स्थान दिलाने के लिए अपने दृढ़ वैचारिक रुख का परिचय देते हैं। सूतक से जुड़े अंधविश्वास का खंडन करते हुए गुरु नानक ने स्त्री की अपवित्रता की धारणाओं को निर्मूल करने का प्रयत्न किया था। संत काव्य परंपरा में कबीर के विचारधारात्मक संघर्ष की अगली कड़ी के रूप में गुरु नानक (1469-1539) को देखने से ही भक्ति आंदोलन के विकास की सकारात्मक दिशा का संकेत मिलता है।

तुलसी तक आते-आते भक्ति आंदोलन की अनेक सकारात्मक प्रवृत्तियाँ उतार पर दिखायी देने लगती हैं। अतः कबीर के मूल्यांकन के संदर्भ में भक्ति आंदोलन के प्रारंभिक उत्थान के साहित्य और भक्ति आंदोलन की उत्तरवर्ती प्रवृत्तियों के साहित्य के अंतर को पूरी निर्ममता से अलगाकर देखना चाहिए। इसके साथ-साथ भक्ति आंदोलन के उत्कर्ष काल से लेकर उसके अपकर्ष काल तक उसके अंदर टकराती हुई विभिन्न प्रवृत्तियों के अंतर्विरोध को तत्कालीन सामाजिक द्वन्द्वों की पृष्ठभूमि में पढ़ा जाना चाहिए। भक्ति साहित्य लगभग 200 वर्षों तक लिखा जाता रहा। उस व्यापक सांस्कृतिक आंदोलन को निर्द्वन्द्व इकहरी प्रवृत्ति के जड़ पुंज के रूप में देखने से ही तमाम तरह की कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई हैं। पर भक्ति साहित्य के कुछ आधारभूत समान तत्व भी हैं जो कबीर से तुलसी तक अनिवार्यतः एक वैचारिक अन्विति की सृष्टि करते हैं। इन समान तत्वों में पहली बात यह है कि ईश्वर के दरबार में सभी जातियों और धर्मों के लोग बराबर हैं। दूसरी बात यह कि सुख-संपदा, भौतिक वैभव-विलास, संपत्ति और पद के लिए लूट मार, अंधी स्वार्थपरता, लोभ, झूठे दिखावे और अहंकार - इन सारी प्रवृत्तियों के नागफौस से बचने का संदेश भक्तिकाव्य की नैतिक अंतर्धारा के रूप में कबीर से तुलसी तक समान रूप से मिलता है। कबीर की बानियों में यह नैतिक संदेश उनके 'ज्ञान' और मानवीय विवेक का आवश्यक तत्व है। अक्सर भ्रांतिवश ज्ञानाश्रयी काव्यधारा के 'ज्ञान' को ईश्वर के निर्गुण रूप तक सीमित कर दिया जाता है। कबीर की बानियों में यह ज्ञान आत्मचेतना, मानवप्रेम और आचरण की सादगी का पर्याय है। परोपकार, दूसरों की पीड़ा को समझना, संतोष में ही आनन्द का अनुभव करना, आदि से संबंधित कबीर के पदों की तत्कालीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में विवेचना नहीं की जाती। सदियों से दबे और कुचले हुए लोगों के प्रति ममता से परिपूर्ण कबीर की बानियों की भी अलग से व्याख्या, चर्चा और समीक्षा बहुत कम की जाती है। दरअसल पन्द्रहवीं-सदी के उत्तरी भारत में कबीर की ज्ञानधारा उस युग की सामाजिक आवश्यकताओं की ही अभिव्यक्ति है। यह ऐसी ज्ञानधारा है जो मानवीय सौहार्द, सद्भावना, सामाजिक बराबरी और प्रेम को भी उतना ही महत्व देती है, जितना निर्गुण-निराकार की भक्ति को महत्व देती है। कबीर शुष्क ज्ञानचर्चा नहीं कर रहे थे - शूद्र और दलित जातियों की पीड़ित आबादी के बीच आत्मसम्मान की भावना भी जगा रहे थे; अपने वैभव एवं ऐश्वर्य की मदांधता में डूबे

लोगों की तीखी आलोचना भी कर रहे थे; पंडितों, मुल्लों, काजियों, अवधूतों को तर्क की भूमि पर अज्ञानी और मूर्ख भी साबित कर रहे थे; वेद एवं स्मृति ग्रंथों की ज्ञानगठरी का मजाक उड़ाकर प्रेम को नये मानवविवेक के रूप में पूरी दृढ़ता से प्रतिष्ठित करने के लिए विराट आह्वान भी कर रहे थे।

आये हैं सो जायेंगे, राजा, रंक, फकीर, जैसी उक्तियाँ शाश्वत सत्यकथन के आवरण में सत्ताधारियों को चुनौती देती हैं और चेतावनी भी। क्या फर्क पड़ता है - एक सिंहासन पर बैठा-बैठा मर जाता है, और दूसरा जंजीर में बँधा-बँधा मर जाता है। फिर सत्ता पक्ष के लोग दंभ किस बात का करते हैं? उन्हें मालूम होना चाहिए कि मरी हुई खाल की साँस से लोहा भी भस्म हो जाता है (मुई खाल की साँस सों, लोह भसम होइ जाई)। अपने इस 'ज्ञान' को लेकर कबीर ब्राह्मण से कहते हैं कि तुमने मेरे ज्ञान को पहचाना ही नहीं, चीन्हा ही नहीं - तुम शास्त्र-पुराण का बहुत ज्ञान रखते हो, फिर भी भूपति से भीख मांगते हो। मैं तो किसी से कुछ मांगता ही नहीं -

तू ब्राह्मण मैं कासी का जोलहा चीन्हि न मोर गियाना।

कबीर का यह ज्ञानमार्ग नई विवेकचेतना की मांग करता है। हर आदमी के मन में आत्मसंग्राम के बीज बोता है

जा घट जान विज्ञान है, तिहि घटि आवटनां घनां।

बिन खडि संग्राम है, नित उठि मन सौं जूझनां।।

कबीर कहते हैं जिसके मन में (घट में) ज्ञान विज्ञान उत्पन्न हो जाता है, उसे चैन कहाँ? उस आदमी के घट में गंभीर उधलपुधल, ऊहापोह शुरू हो जाती है। खांड के बिना ही (तलवार हाथ में नहीं है, फिर भी) संग्राम होने लगता है - ऐसा संग्राम जिसमें अपने मन से ही उठ-उठ कर जूझना पड़ता है। मानववादी आत्मविवेक की जागृति के परिप्रेक्ष्य में कबीर के ज्ञानमार्ग को समझने से उनके पदों के काव्यसौंदर्य को समझा जा सकता है; सिर्फ अध्यात्मवादी चौखटे में इस ज्ञानोन्मेष को बांध देने से काव्यसंवेदना का आस्वाद लेना मुश्किल होता जाता है।

## 6.5 सारांश

भक्तिकाल के प्रारंभिक उत्थान के रचनाकारों में कबीर सर्वाधिक महत्वपूर्ण माने गये हैं। उनकी बानियों में यद्यपि भाषिक दृष्टि से विविधता उपलब्ध होती है, पर यह विविधता उनके काव्य को और भी सजीव बना देती है। भावसौंदर्य और कलात्मकता की दृष्टि से भी कबीर अपने युग के अग्रणी रचनाकार थे।

कबीर की काव्य-भाषा में मध्यकालीन धर्मसाधनाओं, भारतीय दर्शन, इस्लाम तथा सूफीमत के पारिभाषिक शब्दों की भरमार है। कबीर ने इनका उपयोग प्रायः उन्हीं अर्थों में किया है लेकिन उलटबाँसियों, रूपकों, अन्योक्तियों आदि में इन पारिभाषिक शब्दों का तात्त्विक अभिप्राय नई अर्थभंगिमा ग्रहण कर लेती है। कबीर की भाषा में ताजगी, सादगी, जिंदादिली और सजीव व्यंजकता है। उन्होंने अपने युग की जीती-जागती रोजमर्रा की भाषा में बानियों की रचना की है। उनकी भाषा सत्य की आँच में तपी और ढली है। उसमें एक ओर दो, टूक खरापन है तो दूसरी ओर उसमें पीड़ित मानवता के लिए गहरी आत्मीयता भी है। परंतु कबीर की कविता में शुष्क ज्ञान की ही चर्चा नहीं है अपितु उसमें एक काव्य-सौंदर्य भी है। उनकी भाषा संगीत के नाद तत्व से परिपूर्ण है।

## 6.6 अभ्यास/प्रश्न

1. कबीर की बानियों की भाषा के संबंध में प्रचलित विवादों की समीक्षा करें।
2. "कबीर के काव्य में व्यंग्य की अपूर्व सामर्थ्य है।" इस कथन के आलोक में कबीर की समाजचेतना और व्यंग्य-दृष्टि का मूल्यांकन करें।
3. कबीर के काव्य शिल्प पर विचार करते हुए उनकी उलटबाँसियों पर सिद्धों और नाथों के प्रभाव की विवेचना करें।
4. कबीर काव्य की कलात्मकता पर एक स्वतंत्र टिप्पणी लिखें।
5. कबीर काव्य की यथार्थदृष्टि तथा उसके शिल्प पर उदाहरण सहित विवेचनात्मक निबंध लिखें।